

जीवंत इकाई के तौर पर एक स्कूल का संचालन तमाम चुनौतियां पेश करता है। यह चुनौतियां स्कूल में कहे-अनकहे बनने वाले सत्ता संबंधों, रोजमर्रा के कार्यों से बने रूटीन और लक्ष्यों की समझ से पैदा होती है। यह लेख इन चुनौतियों को संबोधित करने की कोशिशों के जरिए हुए अनुभवों से स्कूल संचालन के लिए अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है।

एक स्कूल मैनेजर की डायरी के कुछ पन्ने-II

फ़राह फ़ारूकी

परिचय

दिल्ली विश्वविद्यालय के लेडी श्रीराम कॉलेज में बीएलएड कोर्स से जुड़ी रहीं। आजकल जामिया मिलिया इस्मालिया के शिक्षा विभाग में एसोशियट प्रोफेसर हैं और दिल्ली एजुकेशन सोसाइटी से संबद्ध हैं।

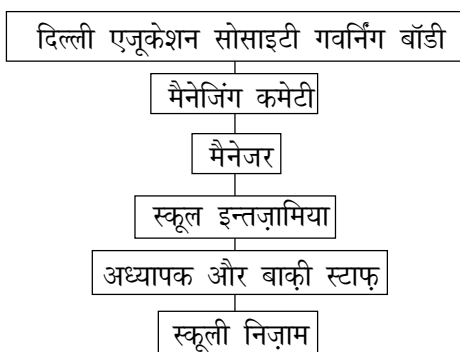
मौजूदा लेख में यह समझने की कोशिश है कि स्कूल किस तरह एक संस्था के रूप में काम करता है। इससे जुड़े लोगों की ज़िम्मेदारियां क्या हैं और वे इन्हें किस तरह निभाते हैं। स्कूल स्टाफ़ के सत्ता को देखने और महसूस करने के नज़रियों से किस तरह के आपसी रिश्ते बन पाते हैं। संवाद के खुले रास्ते और अच्छे ताल्लुकात किस तरह स्कूल के बंदोबस्त और कामों को आसानी, बेहतरी और खूबसूरती बख़्शाते हैं या फिर इनके न होने से कैसे मुश्किलें, ख़राबियां और बदसूरती पैदा हो सकती है। साथ ही अपने काम पर विचार करते हुए यह समझने की कोशिश की है कि मैनेजर का काम जब तंत्र की “ऊपरी गद्दी” पर बैठकर किया जाता है तो वह किस तरह के ख़ौफ़नाक नतीजों से दो-चार करवाता है। अगर यह ही काम मिल-जुलकर ज़मीनी हकीकतों को समझ-जान कर किया जाता है तो उसके नतीजे कितने मुख़्तलिफ़ हो सकते हैं। “चाय की प्याली और सत्ता” के ज़रिए यह समझने की कोशिश है कि कई बार हम इस अहसास से बेख़बर होते हैं कि लोग हमें और हमारी बेज़रूरत सत्ता को किस तरह भांप रहे हैं और इसका असर हमारे आपसी ताल्लुकात पर कैसा पड़ता है। यह कहने की ज़रूरत तो शायद नहीं है कि ये रिश्ते स्कूल के माहौल और बच्चों की शिक्षा को तो प्रभावित करते ही हैं।

स्कूल व्यवस्था और संचालन

मैंने पिछले लेख में लिखा था कि हमारा स्कूल एवं इसके अलावा दो और स्कूल एक सोसाइटी की निगरानी में चलते हैं, जिसका नाम है दिल्ली एजुकेशन सोसाइटी। इन तीन स्कूलों में से दो स्कूल, जिसमें यह स्कूल शामिल है, सोसाइटी के सन् 1951 में वजूद में आने से पहले ही चल रहे थे। दिल्ली एजुकेशन सोसाइटी जब बनी और डॉक्टर ज़ाकिर हुसैन, डॉक्टर सलामातुल्ला और शफीकुरहमान

किंदाई जैसे लोग इससे जुड़े तब स्कूलों ने भी सोसाइटी से जुड़ना चाहा और सोसाइटी ने इन स्कूलों को एक तरह से गोद ले लिया। इस सोसाइटी की अपनी एक संचालन कमेटी (Governing body) है जो तीनों स्कूलों की पूंजी, संसाधन, जायदाद वगैरा के सिलसिले में फैसले लेती है। इसकी कोशिश है कि बच्चों और नौजवानों के लिए, खासतौर से पिछड़े मुसलमान तबके के लिए, बेहतर शिक्षा का इन्तज़ाम कर सकें। तीनों स्कूलों का इन्तज़ाम हर स्कूल की अपनी मैनेजिंग कमेटी द्वारा संचालित होता है। अगर दिल्ली एजुकेशन सोसाइटी की संचालन कमेटी में भी, स्कूल के मुताल्लिक कोई फैसला लिया जाता है तो उसे भी लागू करने के लिए मैनेजिंग कमेटी की सहमति ज़रूरी होती है। मैनेजिंग कमेटी में पंद्रह सदस्य हैं। दिल्ली एजुकेशन सोसाइटी के अध्यक्ष, स्कूल मैनेजिंग कमेटी की सदारत करते हैं। सोसाइटी के ही उपाध्यक्ष, सैक्रेटरी, खजानची, क़ानूनी सलाहकार भी इसके सदस्य हैं। स्कूल की मैनेजर भी सोसाइटी की गवर्निंग बॉडी से ही चुने जाते हैं। इन सदस्यों के अतिरिक्त : स्कूल के प्रिंसिपल, दो टीचर्स (जिन्हें दो साल की अवधि के लिए चुना जाता है); दिल्ली शिक्षा विभाग के दो प्रतिनिधि; एक वाल्डैन-टीचर्स कमेटी (PTA) के प्रतिनिधि शामिल हैं। ऊपर दिए गए सदस्यों के अलावा दो सदस्यों को मैनेजिंग कमेटी नियुक्त कर सकती है। ये स्कूलों या शिक्षा के काम से जुड़े इदारों से चुने जाते हैं।

मैनेजिंग कमेटी के कार्यों में जो चीज़ें शामिल हैं, उनमें से कुछ हैं: स्कूल स्टाफ़ और टीचर्स की नियुक्ति, स्कूल से जुड़े लोगों के काम करने के लिए अनुकूल परिस्थितियों का बन्दोबस्त करना, स्कूल की इमारत और जायदाद की देखभाल की ज़िम्मेदारी, स्कूल स्टाफ़ के खिलाफ़ स्कूल अनुशासन भंग करने पर कार्यवाही। हमारा स्कूल सरकारी मदद से चलता है, जिसके तहत स्टाफ़ की तनखा या वेतन की पिचानवें फ़ीसदी (95%) रक़म सरकारी शिक्षा विभाग से मिलती है। पांच फ़ीसदी (5%) जुटाने की ज़िम्मेदारी स्कूल मैनेजिंग कमेटी की ही है।



ऊपर दिए गए तमाम काम और फैसले स्कूल की मैनेजिंग कमेटी ज़रूर करती है, लेकिन इसकी बैठकों और नियुक्ति समिति में, शिक्षा विभाग के प्रतिनिधि अनुपालक का काम करते हैं। किसी और लेख में ज़िक्र करूंगी कि किस तरह सरकारी महकमा अपनी कुछ ज़िम्मेदारियों को निभाता है और किन-किन से मुंह मोड़ता है। फ़िलहाल चल रही मैनेजिंग कमेटी के गठन का विश्लेषण और शिक्षा के अधिकार कानून के तहत (शायद) नई गठित होने वाली मैनेजिंग कमेटी के फ़ायदे और नुक़सान पर अगले किसी लेख में लिखने की कोशिश करूंगी।

स्कूल मैनेजर की नियुक्ति, दिल्ली एजुकेशन सोसाइटी के अध्यक्ष करते हैं। मैनेजर (जो फ़िलहाल मैं हूँ), स्कूल मैनेजिंग कमेटी और स्कूल इन्तज़ामिया के बीच एक कड़ी का काम करती है। स्कूल स्टाफ़ के तनखा के बिल पर दस्तख़त करना, स्कूल खर्चों के लिए रक़म खर्च करने की इजाज़त देना, नियुक्ति कमेटी में मौजूद होना: ये कुछ काम मैनेजर के ज़िम्मे होते हैं। स्कूल में मैनेजिंग कमेटी के लिखित दस्तावेज़ के हिसाब से इन कामों के अलावा, “स्कूल मैनेजर के लिए ज़रूरी है कि वह स्कूल का संचालन बच्चों की बेहतर शिक्षा के इन्तज़ाम और शिक्षा के विकास के लिए करे” (अंग्रेजी से तरजुमा)। मेरे ज़िम्मे किस तरह के काम आए या फिर मैंने स्कूल की स्थिति को देखते हुए किन-किन कामों या ज़िम्मेदारियों से अपन-आपको जोड़ा, इसकी सिर्फ़ सूची

दे देने से कोई फ़ायदा नहीं है। लेकिन इसका अंदाज़ा आपको कुछ तो इसी लेख और कुछ आने वाले लेखों से हो जाएगा।

सीढ़ीनुमा तंत्र, जंजीरी सिलसिले और वलवले

पेशे से जुड़े रिश्ते वाबस्ता हैं- काम, ज़िम्मेदारियों के एहसास, शिक्षा के बन्दोबस्त और सत्ता की नुमाया श्रेणियों से। इनका बनना-बिगड़ना एक जंजीरी सिलसिला शुरू करता है, जिसकी लपेट में बहुत से लोग आते हैं और इनका ताल्लुक एवं असर बच्चों से तो जुड़ा है ही।

शुरू-शुरू में स्कूल की हालत देखकर मैं परेशान-सी हो गई। मेरी परेशानी और नाराज़गी का एहसास शायद हमारे प्रिंसिपल साहब को हो गया। कुछ कड़वी बातें तो मैंने कही भी थीं जैसे, “भई प्रिंसिपल साहब, यह स्कूल को मछली बाज़ार क्यों बना रखा है, कुछ तो करना होगा”। मेरी फ़िक्र से उन्हें जल्दबाज़ी के साथ-साथ यह भी अन्दाज़ा हुआ कि उनके काम और काबलियत पर उंगुली उठाई जा रही है। नतीजे के डर से, घबराहट और जल्दी में उन्होंने टीचर्स को मीमो और बयानी ख़त जारी करने शुरू कर दिए। कुछ वक़्त लगा मुझे यह समझने में कि यह जारी करने में भी इस बात का ख़्याल रखा जा रहा है कि “ख़तावार” आखिर कौन है। अगर कोई सीनियर टीचर है तो उसकी नाअहली को नज़रअन्दाज़ कर दिया गया और अगर कोई जूनियर टीचर है तो उसे आसानी से मीमो थमा दिया गया। एक टीचर ने मुझे बताया कि बरामदे में दो बच्चों को लड़ता देखकर वह लड़ाई छुड़ाने के लिए क्लास से बाहर आई, उन्हें क्लास में न पाकर, बग़ैर वजह पूछे, मीमो जारी कर दिया गया। इस तरह “डर” को हालात में काबू करने का हथियार बनाया गया। लेकिन यह दर्द को दबाने का एक तरीका था, मर्ज़ तो ज्यों का त्यों रहा। हां, काफ़ी दिन इसका असर ज़रूर रहा। कहने को स्कूल के अनुशासन में एक फ़र्क पड़ा, क्योंकि कक्षाएं वक़्त पर लगीं और टीचर्स अपनी-अपनी क्लासों में नज़र आए। लेकिन इन सतही तरीकों से ढांचे की बनावट, इन्तेज़ाम, आपसी रिश्तों और आयोजन में कोई फ़र्क नहीं पड़ा। असल में ज़रूरत इस बात की थी कि हम सब अपनी कमज़ोरियों की जांच करते, मिल बैठकर सोचते-समझते कि आखिर हालात को कैसे संवारा जाए। यहां यह कह देना मैं ज़रूरी समझती हूं कि ऐसी बात नहीं है कि टीचर्स में ज़ब्बे की कमी हो, बस सूरतेहाल कुछ बस के बाहर-सी थी। जैसा कि मेरी पहली मीटिंग या मुलाकात जब टीचर्स के साथ हुई तो काफ़ी टीचर्स के कहने के मुताबिक, वह स्कूल में योगदान देना चाहते हैं, उनके शब्दों में, “भई हमारी क़ौम का स्कूल है, क़ौम के बच्चे हैं, हम तो चाहते हैं कि स्कूल तरक्की करे”। वाकई क़ौम की ख़िदमद का ज़ब्बा अध्यापकों के दिल में है, इसका कोई ख़ास सबूत तो मुझे मिल नहीं पाया लेकिन उनके इरादों को शक की निगाह से देखने की भी कोई ख़ास वजह मेरे पास नहीं है। अगले किसी अंक में बच्चों और टीचर्स की मज़हबी पहचान का रिश्ता स्कूली मुद्दों से क्या है, इसके बारे में लिखने की कोशिश करूंगी।

ऊपर बैठे हुए बग़ैर ज़मीनी हकीकतों को जाने, नियंत्रण और बदलाव करने के चक्कर में इन्तज़ामिया एक दबाव में आया और उसने सीढ़ीनुमा इस तंत्र की निचली सीढ़ी यानी अध्यापकों को दबाना, धमकाना शुरू किया। इस तरह कड़वाहटें बढ़ीं, आपसी ताल्लुकात ख़राब हुए, श्रेणीबद्ध ढांचा और मज़बूत हुआ, संवाद के रास्ते बन्द हुए। उदाहरण के तौर पर : टीचर्स बच्चों के संदर्भ को जानने के बावजूद या यह समझते-बूझते हुए भी कि कुछ बच्चों के स्कूल में देर से पहुंचने की जायज़ वजह है वह “क़ानून” के दायरे में बंधकर ही फ़ैसले लेते हैं। लचीलेपन की सज़ा उन्हें जो भुगतनी पड़ेगी। न उनकी कोई सुनेगा और न वे बच्चों की सुनेंगे! स्कूल बच्चों की शिक्षा के मक़सद को सामने रखते हुए एक बेहतर संस्था के रूप में काम करे यह एक दूरी खुवाब-सा लगने लगा था। अब मैं सोचती हूं कि यह सीढ़ीनुमा तंत्र जहां ऊपर से फ़रमान जारी किए जाते हैं, टीचर्स की ऐजेंसी या ताक़त को सीमित कर देता होगा और टीचर्स सिर्फ़ अमल करने वाले “मज़दूर” होकर रह जाते हैं। उनसे अपने समझे-बुझे फ़ैसले लेने का हक़ और हिम्मत छिन-सी जाती है। जब लगातार ऐसा होता है तब वे ज़मीनी हकीकतों को जानते हुए भी, जब उन्हें खुद फ़ैसले लेने के हक़ में नहीं होता तो सिर्फ़ जी हुजूरी ही कर पाते हैं।

चाय की प्याली और सत्ता

हमारे स्कूल में एक छोटा-सा कैन्टीन है जहां चाय, ठंडा और खाने-पीने का छोटा-मोटा सामान जैसे समोसा, चिप्स वगैरा बिकते हैं। इस कैन्टीन को चलाने वाले बस अकेले नसीम भाई हैं। वे ही चीजें बनाते हैं और बेचते भी खुद ही हैं। अपनी-अपनी मसरूफ़ियत की वजह से हमें एक-दूसरे से बात करने या रिश्ता बनाने का मौका तो खास मिल नहीं पाया, बस चाय की प्याली ही एक ज़रिया रही एक-दूसरे को कुछ जानने का। इन तीन साल के अरसे में, मैं जानती हूँ, नसीम भाई ने पूरा जतन किया होगा मेरी पसन्द की चाय पिलाने का, लेकिन पूरी कोशिश के बावजूद “मैनेजर साहिबा” को खुश कर नहीं पाए। हां, उनकी कोशिश का एहसास जरूर है मुझे। असल में जब नसीम भाई थोक में चाय बनाते हैं, जैसे वालदैन या टीचर्स से मीटिंग के दौरान तब आम-सी कम दूध शक्कर की चाय मुझे पसन्द आती है। लेकिन जब नसीम भाई को पता चल जाता है कि चाय मैनेजर के लिए बनानी है, तब लाख कहने के बावजूद दूध शक्कर कम हो ही नहीं पाता। खास लोगों के लिए आम चाय, यह भी भला कोई बात हुई! यहां तक कि एक दिन बुलाकर नाप भी समझाया कि एक छोटी चमची दूध और आधी चम्मच शक्कर, लेकिन “खास” चाय ही पीने को मिली। अब भी सत्ता का एहसास हमारे फासले और चाय का तकलीफ़दे तकल्लुफ़ ज्यों का त्यों बरकरार है। यहां तक कि मैं अब मीटिंग्स के दौरान ही चाय पीती हूँ।

नसीम भाई की चाय की प्याली यह तो समझा ही गई कि अपनी सत्ता और करार दी गई अस्मिता को, अपनी कम और दूसरे की नज़र से ज़्यादा देखने-समझने की ज़रूरत है। यह भी समझने की ज़रूरत है कि सीढ़ीनुमा तंत्र आपको किस तरह की हैसियत और अस्मिता दे देता है। चाहे आप उसे खुद क़बूल करना भी चाहें या नहीं। हमारे नसीम भाई कॉन्ट्रैक्ट पर कैन्टीन चलाते हैं और कोई स्थाई पद न होने की वजह से अपनी “कमज़ोर” हैसियत और दूसरों की मुक़ाबलतन ताकत का उनका एक अपना अन्दाज़ा है। मेरा यह गुमान कि मैं बराबरी में यकीन रखती हूँ शायद हर एक को बराबर होने का एहसास नहीं दे पाता है। लोग अपने पिछले तजुरबों, अपने विचार और कल्पना के आधार पर दूसरों के बारे में अन्दाज़े लगाते हैं। ढांचों को बदलने के लिए सिर्फ़ एहसास काफी नहीं है, बल्कि क़दम उठाने या क्रिया और संवाद की ज़रूरत है ताकि जिम्मेदारियों के बारे में एक समझे-बूझे तसव्वुर तक पहुंचा जा सके।

क़्यामत की कशमाकश या बदलाव के झटके?

हालात को समझने में वक़्त लगा और स्कूल में एक कशमाकश का आलम बरकरार रहा। शुरू में कई महीने तो मुझे लगता था कि बस मेरा काम स्टाफ़ की तनखा के बिल पर दस्तख़त करना और सूचना के अधिकार के तहत जो कई ख़त हर महीने आते थे, उनका जवाब देना ही बनकर रह गया है। ज़्यादातर ख़त हमारे स्कूल के दो साथियों से ही आते थे, लेकिन इनके पीछे स्कूल के कई और टीचर्स का हाथ भी था। इनमें कई तरह के सवाल पूछे जाते थे, जैसे: टीचर्स के काम के मौजूदा भार और नियम से संबंधित, सन् 1998 में टी.ए. या सफ़री भत्ता स्कूल स्टाफ़ को कितना मिलता था? स्कूल प्रिंसिपल स्कूल से तब कितनी दूरी पर रहते थे? उन्होंने कितना टी.ए. वसूल किया और क्यों? वाइस प्रिंसिपल बनने के लिए किस तरह का और कितना तजुरबा चाहिए; मौजूदा वाइस प्रिंसिपल का कितना है? वगैरा, वगैरा। इन सूचना मांगने वाले ख़तों के अलावा ढेरों शिकायती और इलज़ामी ख़त आते थे जिनमें स्कूल में आर्थिक घपलों का इलज़ाम भी शामिल था। इनमें से कुछ दिल्ली एजूकेशन सोसाइटी के अध्यक्ष के पास भी पहुंचे, जांच-पड़ताल कमेटियां बनाई गईं। बहुत से गुमनाम ख़त और फोन भी आए। एक दहला देने वाला इलज़ामी ख़त स्कूल के ग्यारहवीं कक्षा के बच्चों की तरफ़ से भी आया जिसकी कॉपी बच्चों ने सोसाइटी के मुख्य अध्यक्ष के साथ-साथ दिल्ली की मुख्यमंत्री और शिक्षामंत्री को भी भेजी। इलज़ाम था कि स्कूल के कुछ उस्ताद बच्चों से रिश्तत लेकर उन्हें पास करते हैं। यह सब शिकायती ख़त घूम-फिरकर मेरे पास ही आते थे। या तो मैं इंकवाइरी कमेटी की रिपोर्ट तैयार कर रही होती थी या फिर जवाबी ख़त द्वारा सफ़ाई पेश करती थी। यहां यह कहना ज़रूरी है कि ज़्यादातर शिकायतें और इलज़ाम बेबुनियाद पाए गए। हां, इन सब

खतों, शिकायतों के विश्लेषण ने मुझे एक गहरी समझ ज़रूर दी। कभी इनमें से कुछ का ज़िक्र आपसे किसी लेख में ज़रूर करूंगी। उस वक्त का स्कूली सफ़र तकलीफ़दे ज़रूर रहा। कुछ आग बुझाने जैसा काम था। जिसमें कुछ लपटें खुद तक भी आने का अंदेश था। इस दौरान स्कूल अपनी चाल और रफ़्तार से चल रहा था। कक्षाएं लगने में तो थोड़ा-बहुत फ़र्क पड़ा था। लेकिन स्कूल के माहौल या फिर बच्चों की बेहतर पढ़ाई-लिखाई और आपसी ताल्लुक़ात में कोई फ़र्क नहीं था। और मेरे पास सबके साथ मिलकर योजना बनाने या यूं कहिए कि बच्चों की तरफ़ देखने का भी वक्त कहां था।

एक अच्छी सहेली ने, जिनका कई बार हमारे स्कूल भी आना हुआ, मेरी दर्द भरी कहानी सुनकर अच्छा मज़ाक़ किया, जो समाज और स्कूल की संस्कृति और ढांचों को देखते हुए कुछ हकीक़त के करीब ही लगा। उन्होंने कहा, “भई! यह स्कूल तुमसे सम्भलने वाला नहीं है। एक तो तुम औरत हो, दूसरा सादे-सूदे कपड़े पहनकर स्कूल पहुंच जाती हो। अंग्रेज़ी का रोब भी नहीं झाड़तीं और पिछले मैनेजरों के मुक़ाबले में कुछ कम उम्र भी हो।” सुझाव दिया कि औरत होना तो “मजबूरी” में शुमार हो गया है लेकिन साड़ी-वाड़ी पहनकर, नज़र के चश्मे की ज़रूरत न होने के बावजूद चश्मा लगाकर जाऊं। अपना एक अलग कमरा हो जिसके बाहर मैनेजर की तख़्ती लगी हो। कुछ स्कूल के हमदर्द टीचर्स भी थे, जिन्होंने एक पुराने मैनेजर का उदाहरण देते हुए बताया, “अरे! प्रिंसिपल तो उनके सामने थर-थर कांपते थे और उनकी एक बुलंद आवाज़ से स्कूल में ख़ामोशी छा जाती थी।” इस तरह लोगों ने मुझे सत्ता के इशारों और निशानों की अहमियत समझाई। लेकिन समझने और सोचने की बात यह थी कि ज़मीनी हकीक़तों को जाने बग़ैर क्या “नियंत्रण” और बेमतलब सत्ता का नक़ाब पहनकर फ़रमान जारी करने से क्या स्कूल में बदलाव मुमकिन था? क्या इस तरह मेरे और स्कूल से जुड़े साथियों के आपसी रिश्ते बन सकते थे? क्या सत्ता के सीढ़ीनुमा ढांचे बदल सकते थे? जहां यह सब सवाल अपनी जगह दुरुस्त हैं, वहां यह कबूलने में आज मुझे हिचकिचाहट नहीं है कि कई बार दिल चाहा कि कुछ तो करके देखा जाए। ज़ोरावरी सबसे आसान रास्ता जो है नियंत्रण का, बदलाव का नहीं। यह बताना यहां ज़रूरी है कि मैं स्कूल में आमतौर से महीने में पांच-छः बार से ज़्यादा नहीं जा पाती हूं, जो ज़रूरत में पंद्रह-बीस बार भी हो जाता है। मेरा कोई अलग कमरा नहीं है क्योंकि लगातार नहीं जाती हूं, तो बिलावजह जगह घेरना मुनासिब नहीं लगा। इस तरह सत्ता के कम से कम एक ज़ाहिरी या स्पष्ट चिह्न से तो हमारा स्कूल महरूम रह ही गया। बल्कि अगर उस कमरे में बैठकर घंटी बजाती तब तो सत्ता की गूंज पूरे स्कूल में गूंजती! आज मुझे लगता है, शायद यह तमाम “कमियां और कमज़ोरियां” ही मेरी ताक़त थीं, क्योंकि स्कूल अब कुछ तो बदला ही है।

इन तमाम गर्दिशों के बीच में जब सांस लेने का मौक़ा मिला तो हालात को समझने का जत्न किया। कुछ तो यह समझ में आया कि स्कूल में क्रियाशील समितियों की कमी है। जो बनी हुई भी थीं वे पूरे तौर पर ठीक से काम नहीं कर रही थीं जैसे, स्कूल में टूट-फूट, मरम्मत या फिर कुछ तामीर के काम के सिलसिले में सामान ख़रीदा जाता है और पंखे, कम्प्यूटर की ज़रूरत भी रहती है। इस काम को अन्जाम देने का एक तरीका है कि फ़रोख़्त करने वालों से तीन कोटेशन मंगवाए जाएं, इनमें से जो दाम कम हो या जो दुकानदार कम भाव में चीज़ दे, उससे ही ख़रीद-फ़रोख़्त समिति की सहमति से ख़रीददारी की जाए। सामान कितना आया है, यह सब चैक करना भी इस समिति के सदस्यों का काम है। जगह-जगह उनके हस्ताक्षर चाहिए होते हैं। पता यह चला कि सामान मंगवाया जाता है, काम होता है और आख़ीर में उनसे बिल पर हस्ताक्षर ले लिए जाते हैं। इसके पीछे कोई घपला नहीं था, बस प्रक्रिया का तरतीब से पालन नहीं किया जा रहा था। समिति के सदस्य रुचि नहीं दिखाते थे या अगर स्कूल के बाद सामान आना है तो रुकते नहीं थे। इस सूरत में इन्तज़ामिया अपनी ज़िम्मेदारी पर काम तो करवा लेता था लेकिन उसूलों का तो उल्लंघन हो ही रहा था। काम करने के बावजूद शक के दायरे में घिरे थे। कई और कामों में भी पूरी पारदर्शिता नहीं थी तो शक और शुबह की गुंजाइश ज़्यादा थी।

इसी तरह स्कूल की कई और कमेटियां क्रियाशील नहीं थीं जैसे स्कूल की अनुशासन समिति, सांस्कृतिक कार्यक्रम समिति अपनी-अपनी ज़िम्मेदारियों को सही तरह नहीं निभा रही थीं। तंत्र के क्रियाशील भागों के न होने और अपारदर्शिता के कारण लोगों को आसानी से घपलों और घोटालों का अंदेश रहता था। स्कूल से जुड़े लोगों के

बीच फ़ासले थे, साथ ही संवाद के रास्तों की शदीद कमी का अन्दाज़ा हुआ। यह दूरियां दिल्ली एजुकेशन सोसाइटी के सदस्य जो स्कूल मैनेजिंग कमेटी के भी सदस्य थे, उनके और स्कूल इन्तज़ामिया के बीच तो थी हीं, साथ ही इन्तज़ामिया और स्कूल स्टाफ़ के बीच में भी थीं। दूरी और संवाद की कमी की सूरत में शक और उसके साथ डराने-धमकाने को नियंत्रण का हथियार बनाया जा रहा था। यह इन्तज़ामिया और मैनेजमेन्ट की तरफ़ से मीमो, इक्वाइरी कमेटी की शकल ले रहे थे। दूसरी तरफ़ संवाद के रास्ते न खुले होने के कारण सूचना के अधिकार कानून के तहत मालूमात हासिल की जा रही थी। यह नए मैनेजर को आगाह करने का तरीका भी था कि स्कूल में सब कुछ ठीक नहीं है और बदलाव की ज़रूरत है। हां, कुछ “शरारतें” भी शामिल थीं।

एक अजीब बात इदारों और संगठनों में देखने को मिलती है कि ज़्यादा “बड़े-ऊंचे” लेकिन ज़्यादा ज़िम्मेदारी के पदों पर बैठे लोग ज़मीनी हकीकतों, लोगों, बच्चों और उनकी ज़िन्दगियों से बेख़बर रहते हैं और फ़ैसले भी उन्हीं के हाथ में होते हैं। जो भी इस स्कूल या और स्कूलों से जुड़ता है उसे ज़रूरत है बच्चों की और टीचर्स की ज़िन्दगी में झाँककर देखने की, उनके ख़ाबों को अपना ख़ाब बनाए ताकि ये ख़ाब हकीकत में बदल सकें।

कुछ कोशिशें कुछ खड़े-मीठे तजुरबे

जैसे कि मैं कह चुकी हूँ कि स्कूल में संवाद, पारदर्शिता और तंत्र के कार्यशील भागों या समितियों की कमी तो मुझे महसूस हुई। स्टाफ़, बच्चों और इन्तज़ामिया के साथ अलग-अलग और एक साथ भी बैठकें कीं। अंदाज़ा हुआ कि हमारे स्कूल में फ़ैसले लेने का यह “नया नवेला” तरीका है। मीटिंग करना भी शुरू में लोगों को जुल्म-सा लगा। स्कूल की मशीनी-सी ज़िन्दगी में मिल-जुलकर बैठने, सोचने-समझने का वक़्त मुश्किल से निकल पाता है। या तो बच्चों की जल्दी छुट्टी करें या फिर स्कूल के बाद मिलकर बैठें, दोनों ही तरीके अपनाए गए। स्कूल में देर तक रुकने के लिए कम लोग तैयार थे, खासतौर से महिलाएं। फिर भी जैसे- तैसे वक़्त निकाला और लोग शामिल हुए- कुछ दिल से और कुछ बेदिली से।

अगर हम स्कूल को एक संस्था के रूप में देखते हैं तो मान लेते हैं कि इससे जुड़े लोगों का बच्चों की शिक्षा के बारे में एक सोचा-समझा नज़रिया होगा जो स्कूल के साथ जुड़े तजुरबों से प्रभावित होगा। लेकिन ऐसा है नहीं। बातचीत से समझ में आया कि अगर एक साझे नज़रिए की बात करें तो वह स्कूल के सामाजिक या राजनैतिक संदर्भ से नहीं उभरा है, बल्कि सौंपा और अपनाया हुआ है। और यह स्कूल “चलने” का कार्यशील उद्देश्य तो पूरा करता ही है। यह नज़रिया और उससे जुड़े उद्देश्य अपनाए गए हैं राज्य की ऐजेंसियों से जिसमें से अहम हैं : दिल्ली राज्य का शिक्षा विभाग; केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड (सी.बी.एस.सी.) और राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् (एन.सी.ई.आर.टी.)।

अगर कभी टीचर्स की बैठकों में स्कूल का साल भर का कैलेण्डर बनाने की बात होती तो पता चलता कि शिक्षा विभाग भेज चुका है। राष्ट्रीय पर्व के अलावा और कौनसे दिन खुशी और जश्न के काबिल हैं यह भी राज्य ही तय कर देता है जैसे ईको. दिवस (eco-day), खेल-कूद दिवस (sports day)। इसी तरह महीने के हिसाब से पाठ्यक्रम कितना पढ़ाना है, यह भी तय होकर या सुझाव के रूप में स्कूलों में पहुंच जाता है। हाज़िरी कितनी हो, कब-कब इम्तेहान लिए जाएं ये सब “ज़रूरतें” शिक्षा विभाग तय करता है। कैसे जांच करें, क्यों मूल्यांकन करें, सी.बी.एस.सी. और एन.सी.ई.आर.टी. तय कर देता है। शिक्षा या तालीम के मक़सद इन्हीं कामों को पूरा करना या फिर काम की दुनिया में साबित क़दम रखना ही समझा जाता है। दूसरी तरफ़ राज्य का तसव्युर टीचर्स के बारे में मज़दूरों जैसा महसूस होता है, बुद्धिजीवी जैसा नहीं। साथ ही सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक संदर्भ के हिसाब से आपस में बिलकुल फ़र्क स्कूलों को एक रंग में रंगा मान लिया गया है। इन ऐजेंसियों की तजवीज़े और आदेश सब अपने ऊपर हमने थोप लिए हैं। आखिर हमारे स्कूल राज्य की आर्थिक मदद का मोहताज जो हैं। ख़ैर, इन बैठकों में कुछ तो स्कूल और बच्चों की बेहतरी के लिए तजवीज़ें हुईं। यह कहना ज़रूरी है कि सभी की एक ख़्वाहिश तो थी, कि स्कूल का सूरतेहाल बदले। ज़्यादातर जो मुसलमान टीचर्स थे उन्हींने अपने काम को क़ौम की ख़िदमत बताया और कहा कि वे चाहते हैं कि उनकी क़ौम का स्कूल और बच्चे तरक्की

करें। यह एक साझा-सा मक़सद तो ज़्यादातर के दिल, दिमाग़ और ज़बान पर था। अन्य समुदायों के टीचर्स को भी भागीदारी और ज़िम्मेदारी का एहसास तो था ही।

इन बैठकों से एक-दूसरे को और स्कूल को जानने का कुछ मौक़ा तो मुझे मिला ही। साथ ही कुछ संवाद के रास्ते भी खुले और प्रिंसिपल साहब की तरफ़ से “फ़रमान” कम जारी हुए। मेरी तरफ़ से तो पहले ही न के बराबर थे लेकिन अब बन्द ही से हो गए। कुछ चीज़ें तो मिल-जुलकर रुचि और रुझान देख-समझकर तय हो पाईं। जैसे अलग-अलग कमेटियां स्कूल के कामों के लिए तजवीज़ की गईं और बनाई गईं। जैसे: अलग-अलग विषयों जैसे गणित, विज्ञान, सामाजिक विज्ञान और भाषा कमेटी; मैग्ज़ीन या स्कूल रिसाला कमेटी; खरीद-फरोख़्त कमेटी; अनुशासन कमेटी; इस्तेहान कमेटी; सांस्कृतिक कार्यक्रम कमेटी, वगैरा। उस्ताद अपनी मर्ज़ी से इनसे जुड़े। कई कमेटियों में आज भी काम कच्चा-पक्का-सा है और कई एक गहरी समझ से काम कर रही हैं। अगर हम विषयों से जुड़ी कमेटियों की बात करें तो शुरू में टीचर्स का शिक्षा विभाग और इन्तज़ामिया की तरफ़ से जारी किए गए फ़रमानों को बजा लेने के अलावा आपस में विमर्श कम ही होता था। इसकी बहुत-सी वजह में से एक वजह हमारे टीचर एजुकेशन प्रोग्राम की नाकामी है। यह टीचर्स को इस तरह तैयार ही नहीं करता कि वे बच्चों की अवधारणा की समझ को उनके जिस्मानी और दिमागी विकास से जोड़ पाएं। और इसे उनके सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भ से जोड़ते हुए पाठ्यक्रम में शामिल कर सकें। लेकिन यह भी हकीक़त है कि बच्चों के साथ एक लम्बा अनुभव उन्हें एक गहरी समझ देता है जो उनके काम और फ़ैसलों को बेहतर बना सकती है। अफ़सोस अपने फ़ैसले लेने की गुंजाइश और हिम्मत, दोनों ही, उनमें कम है। यह कुछ नासमझी-सी और कुछ समझी-बूझी-सी साज़िश सीढ़ीनुमा तंत्र की है। इसके मुजरिम राज्य का शिक्षा विभाग, इसकी ऐजेंसियां, साथ ही टीचर्स के “ऊपर बैठे” बगैर ज़मीनी हकीक़तों को जाने-बूझे फ़रमान जारी करने वाले सभी सत्तावादी शामिल हैं।

बैठकों के ज़रिए संवाद के रास्ते खुले और साथ ही रिश्ते बनने की शुरुआत हुई। इन बैठकों ने हम सभी को भागीदारी का एक एहसास तो दिया ही। व्यावसायिक रिश्तों की अपनी एहमियत है लेकिन अच्छे आपसी ताल्लुकात एक खिड़की-सी खोल देते हैं जिसके ज़रिए ज़मीनी हकीक़तों को समझा जा सकता है। संवाद के औपचारिक और अनौपचारिक दोनों ही रास्ते एक लोकतांत्रिक ढांचा बनाने के लिए ज़रूरी हैं। इसका एक उदाहरण है कि हमारी एक साथी टीचर ने इस बात की फ़िक्र ज़ाहिर की कि हमारे स्कूल में पिछले कुछ सालों में लड़कियों की संख्या कम हुई है। उन्होंने दो वजहें बताईं; एक यह कि पास में एक सिर्फ़ लड़कियों का स्कूल खुल गया है; दूसरा उन्होंने यह सवाल उठाया कि, क्या हमारे स्कूल का माहौल बच्चियों के लिए दुरुस्त है? उन्होंने उदाहरण दिया कि हाल में दसवीं कक्षा के एक बच्चे और बच्ची की आपस में गहरी दोस्ती हो गई। क्लास टीचर ने बच्चों को समझाया-बुझाया, नहीं माने तो वालदेन को बुला भेजा। लड़की की मां ने “बदनामी” के डर से बच्ची को घर बिठा लिया। यह पता चलने पर फ़ौरी क़दम के तौर पर बच्ची को वापस बुलाने की कोशिश जारी है। साथ ही अपने सीखने के लिए, स्कूल में जेन्डर और यौनिकता के मुद्दों पर एक बाहरी संस्था के साथ बैठक का आयोजन करने की बातचीत चल रही है। इस मुद्दे को लेकर टीचर्स का आपस में संवाद भी जारी है।

संवाद के कारण और साथ ही कमेटियों के क्रियाशील होने की वजह से पारदर्शिता में भी इज़ाफ़ा हुआ है। ग़ैरबराबरी का ढांचा कुछ हिल डुल-सा तो गया है! कैसे? इस बारे में मैं अपने अगले लेख में चर्चा करूंगी। साथ ही, टीचर्स के आपस में जुड़ने का एक मज़ेदार रास्ता है, हमारे स्कूल के कई टी क्लब या चाय के क्लब, इनके बारे में भी बातचीत करना चाहूंगी। टीचर्स अलग-अलग समूह से क्यों जुड़ते होंगे? इस बारे में भी लिखने की कोशिश करूंगी कि उनके आपसी ताल्लुकात कैसे हैं और गहरी ग़ैरबराबरी के सामाजिक-सांस्कृतिक कारण क्या हैं? साथ ही अपने काम के बारे में जिक्र करना चाहूंगी और इस बात पर आपसे बातचीत होगी कि क्या बगैर ‘सत्ता’ के अगुवाई मुमकिन है? ♦